कविवर बनारसीदास और जीवनमूल्य

डा० नरेन्द्र भानावत

साहित्य का धर्म और अध्यात्म से गहरा सम्बन्ध है। साहित्य के मूल में सहितता और हित का भाव निहित है तो धर्म और अध्यात्म का लक्ष्य प्राणि-मात्र के प्रति प्रेम और मैत्री का भाव स्थापित करते हुए विश्व एकात्मक बोध की आनन्दानुभूति में रमण करना है। यही कारण है कि संत काव्य और भक्ति काव्य में निहित संदेश आज भी संतप्त मानव को तृप्ति प्रदान करता है। रिक्त मन को परिपूर्ण बनाता है और निराशा व कुण्ठा के क्षणों में आशा और आस्था का संचार करता है। भारतीय साहित्य का अधिकांश भाग चाहे वह किसी भी भाषा का हो धर्म और अध्यात्म से अनुप्राणित है और इसीलिए वह चिर जीवित है, लोक-मानस में रमा हुआ है।

कविवर बनारसीदास भारतीय धर्म और अध्यात्म चिन्तन-परम्परा के श्रेष्ठ कवि और व्याख्याता हैं। परम्परा का निर्वाह करते हुए भी वे उसका बोझा नहीं ढोते वरन् अवांछित तत्त्वों को काट-छाँट कर उसकी प्रकृत भावधारा को प्रवहमान रखते हैं। उसके भार को प्यार और क्रांति की धार में बदलते हैं। जीवन को वे भव-परम्परा के रूप में देखकर उसके कर्म-चक्र से टकराते हैं, उलझते हैं, उसमें फँसते और धँसते हैं, पर पराभूत नहीं होते। अपने ज्ञान-चक्र की पैनी धार से उसकी पर्तों को कुरेदते हैं, आत्मरस का अनुभव करते हैं।

यों जरा कल्पना कीजिए, उस मन:स्थिति की जिसमें बनारसीदास एक नहीं तीन-तीन विवाह करते हैं और जिनके एक नहीं, दो नहीं, नौ संतानें—दो पुत्र और सात पुत्रियाँ होती हैं, पर अन्ततः जीवन में अकेलापन।

उनका यह मृत्युबोध कितना मार्मिक, यथार्थ और सांसारिक नश्वरता, निस्सारता का द्योतक है :—

> नौ बालक हुवैं मुवैं, रहे नारी नर दोइ।
> ज्यौं तरवर पतझर ह्वै, रहैं ठूंठ सो होइ॥

५५ वर्ष की अवस्था में कवि जैसे अपने जीवन-उपवन को तटस्थ होकर देखता है और अनुभव करता है कि जिसे उसने अब तक अपना जीवन-उपवन समझा है, वह बासन्ती बयार से युक्त नहीं वरन् पतझड़ की व्यथा से ग्रस्त है और मानव जीवन की सार्थकता 'पर' से ममत्व जोड़ने में नहीं वरन् 'स्व' के सम्मुख होने में है, स्वानुभव में है। यह अनुभव परिग्रह बढ़ाने से नहीं, वरन् घटाने से ही, निस्संग होने से ही सम्भव है। जब व्यक्ति चर्म-चक्षुओं से नहीं वरन् हृदय चक्षु से, ज्ञान चक्षु से संसार के वस्तु स्वरूप को देखने का सामर्थ्य पा लेता है, तब उसे बाहर नहीं, अपने भीतर ही अनन्त वसन्त लहलहाता दिखाई देता है :

> तत्त्व दृष्टि जो देखिए, सत्यारथ की भाँति।
> ज्यौं जाको परिगह घटैं, त्यौं ताकौ उपसांति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवि का प्रारम्भिक जीवन परिग्रह-संकुल है। वह आधि-व्याधि से ग्रस्त है। कभी संग्रहणी रोग है तो कभी चेचक का आतंक। कभी चोर डाकुओं का भय है, तो कभी प्राण रक्षा के लिए बनिये होकर भी ब्राह्मण बनने का स्वांग है। कवि व्यापारी है, धन-दौलत के लिए वह नानाविध कठिनाइयों, आपत्तियों, आशंकाओं से घिर कर भी अपना व्यापार-अभियान चलाता है। पर उसमें अभीष्ट सफलता नहीं मिलती। जीवन रत्नाकर में वह पैठता है, हाथ-पांव पछाड़ता है, पर हृदय की आँख खुली न होने से अतल गहराई में निहित रत्नों को प्राप्त नहीं कर पाता। उसे चारों ओर झाग ही झाग मिलते हैं, दिखाई देते हैं :—

भोंदू भाई ! समुझ सबद यह मेरा।
जो तू देखै इन आँखिन सों तामें कछू न तेरा।।
ए आँखें भ्रम ही सौं उपजी, भ्रम ही के रस पागी।
जहँ-जहँ भ्रम, तहँ-तहँ इनको श्रम, तू इन्हीं को रागी।।
ए आँखें दोउ रची चाम की, चाम ही चाम बिलौवें।
ताकी ओट मोह निद्रा जुत, सुपन रूप तू जोवें।।
इन आँखिन को कौन भरोसो, ए विनसै छिन मांही।
है इनको पुद्गल सौं परचै, तू तो पुद्गल नांही।।

जब पुद्गल से परे अविनाशी से, 'चाम' से परे अपने 'स्वाम' से सम्बन्ध जुड़ता है, तब सतत प्रकाशमान आत्मगुण-रत्नों से साक्षात्कार होता है। इसके लिए चाहिए हृदय की आँख और उससे देखने की कला—

भोंदू भाई ! देखि हिये की आखें।
जै करसैं अपनी सुख संपत्ति, भ्रम की संपत्ति नाखै।।
जै आंखे अमृत रस बरखैं परखै केवलि बानि।
जिन आंखिन विलोकि परमारथ, होहिं कृतारथ प्राणि।।

कहना न होगा कि कवि बनारसीदास जी हिये की आँखों से वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति को देखने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं और उन्हें धर्म के नाम पर प्रचलित ढोंग, आडम्बर, प्रदर्शन, अन्धविश्वास आदि सब निरर्थक और प्रतिगामी लगते हैं। ये बाह्य वेश-भूषा को महत्त्व न देकर आन्तरिक भावना को महत्त्व देते हैं—'भेष में न भगवान, भगवान भाव में'। शुद्धता ही उनके लिए सिद्ध पद का आधार बनती है—'शुद्धता में वास किये; सिद्ध पद पावै है'। अब वे उपभोक्ता संस्कृति के नहीं; उपयोगमूलक जीवन-दृष्टि के उपासक बन जाते हैं।

कवि बनारसीदास द्वारा रचित 'अर्द्धकथानक' यों तो १७वीं शती के एक मध्यमवर्गीय व्यापारी की आत्म-कथा के माध्यम से तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का दस्तावेज प्रतीत होता है, उसमें जगह-जगह जीवन की विद्रूपताओं एवं सामाजिक विकृतियों को उभारा गया है। कवि अपनी दुर्बलताओं और मूर्खताओं का बेहिचक चित्रण कर, युगीन सामाजिक विसंगतियों को घनीभूत करता है। इस दृष्टि से 'अर्द्धकथानक' सामाजिक इतिहास लेखकों के लिए जीवंत, विश्वसनीय और प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। पर मेरी अपनी दृष्टि में कविवर बनारसीदास को शायद यह अभिप्रेत नहीं है। कवि की पकड़ सामाजिक यथार्थ से गुजरती हुई होकर भी आत्मालोचन और अन्तर्निरीक्षण की है। अपनी आत्मकथा के माध्यम से वस्तुतः वह 'पर' से न जुड़कर 'स्व' से ही अधिकाधिक जुड़ता चलता है। आत्मकथा का लेखन एक प्रकार से कवि का प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का जैन-परम्परा में विशेष महत्व है। प्रत्येक श्रमण-श्रावक प्रतिदिन की अपनी चर्या में रहे हुए छिद्रों को भरने के लिए, अन्तरावलोकन करता है। अपने कृत कर्मों का प्रातः सायं आत्मचिंतन कर उसमें हुए पाप दोषों से निवृत्ति के लिए वह प्रायश्चित्त करता है और भविष्य में दोषों की पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए सावधानी बरतने का संकल्प करता है। दूसरे शब्दों में जो-जो अतिक्रमण हुए हैं, उसका प्रतिक्रमण कर वह विभाव, विकारों से दूर हट कर, अपने स्वभाव में स्थिर होता है। ज्यों-ज्यों मैं कवि की आत्मकथा 'कथानक' का पारायण करता हूँ, त्यों-त्यों मुझे लगता है कि यह कवि के ५५ वर्ष के जीवन का प्रतिक्रमण है जिसमें वह अपने दोषों|विकारों पर स्वयं हँसता है और दूसरों को हँसाता है। इस तरह अपनी मनोग्रन्थियों को निर्ग्रंथ बनाने की कला का उत्कृष्ट रूप हैं यह आत्मकथा। यह कथा संस्मरणात्मक होकर भी प्रतिक्रमणात्मक है और सचमुच बनारसीदास के जीवन का आरसी बन गई है। बना आरसी = बनारसी।

प्रतिक्रमण का भाव अर्थात् पीछे लौटाकर अपने विकारों और कमजोरियों को गुण-दोष को देखने की प्रवृत्ति तब ही जागती है जब चित्तवृत्ति निर्मल और हृदय सरल हो। निर्मल और सरल हृदय ही जीवन मूल्यों का निर्माण कर सकता है। जहाँ वक्रता और वंचकता होती है, वहाँ मूल्य अर्थात् वैल्यू का निर्माण नहीं होता। हाँ, वक्र व्यक्ति कीमत अर्थात् प्राइस की दुनिया में अवश्य चलता-फिरता हैं। बनारसीदास धर्म को कीमत अर्थात् प्राइस के रूप में नहीं मूल्य अर्थात् वैल्यू के रूप में स्वीकार करते हैं।

इसीलिए बनारसीदास के लिए समय धर्म नहीं वरन् आत्मा है। वे समय के सार को केवल बाँचते और पढ़ते नहीं, वरन् जीवन में उतारते हैं और सतत जागरूक बने रहते हैं। यह जागरुकता उन्हें समझौतावादी नहीं बनाती, साम्यवादी बनाती है। उनकी दृष्टि में सम्पदा धन-दौलत और जड़ पदार्थ नहीं है। सच्ची सम्पदा वह है जो सम्पदा सम्प (आपसी एकता) दे, सन्तोष दे, समता भाव में रमाये।

कवि बनारसीदास का सम्पूर्ण जीवन विषमता के खिलाफ संघर्ष करने का जीवन है। आर्थिक विषमता से तो व्यापारी होने के कारण वे जूझते ही रहे। पर समाज सुधारक एवं तत्त्व द्रष्टा के रूप में वे सामाजिक विषतमा एवं धार्मिक विषमता से भी जूझते। कबीर की तरह उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ आवाज बुलन्द की और 'कोई जन्म से नहीं, कर्म से महान होता है' भगवान महावीर की इन वाणी को उन्होंने अपने शब्दों में प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टि में तिलक, माला, मुद्रा और छाप धारण करने वाला वैष्णव नहीं है। सच्चा वैष्णव वह है जो संतोष का तिलक, वैराग्य की माला, ज्ञान की मुद्रा और श्रुति की छाप धारण करता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिलक तोष माला विरति मुद्रा श्रुति छाप ।
इन लक्षण सो वैष्णव समुझें हरि परताप ।।

मुसलमान वह है जो अपने मन का निग्रह कर उसे खुदा की ओर अभिमुख करता है :—

जो मन मुसे आपनो, साहिब के रुख होय ।
ज्ञान मुसल्ला गुह टिकै, मुसलमान है सोय ।।

उनकी दृष्टि में हिन्दू और तुरुक में कोई भेद नहीं है। दोनों एक हैं—मन की द्विविधा मान कर भये एक सौ दोय। यह द्विविधा अर्थात् अज्ञान और भ्रम ही वर्ण-भेद, रंग-भेद और ऊँच-नीच का भेद बनाये हुए हैं। बनारसीदास का निम्न कथन सम्पूर्ण मानव जाति को एक सूत्र में बाँधने के लिये आज भी मार्ग-दर्शक और प्रेरणादायक है—

तिनको द्विविधा, जे लखें, रंग-बिरंगी चाम ।
मेरे नैनन देखिये, घट-घट अन्तर राम ।।

वस्तुतः कवि ने सतत स्वाध्याय करते हुए, वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्ष्या और धर्म कथा को आत्मसात कर लिया था। धर्म को उन्होंने कहा ही नहीं है बल्कि जीवन में धारण किया है। इसी स्तर पर वे भेद में अभेद और द्वैत में अद्वैत की अनुभूति कर सके। धर्म और अध्यात्म के स्तर पर उनका समता भाव, उन्हें परम प्रेमानुभूति में निमग्न कर गया, जहाँ आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता—

होऊँ मगन मैं दरसन पाय। ज्यों दरिया में बूँद समाय ।
पिय को मिलौं अपनयो खोय। ओला गल पाणी ज्यों होय ।।
पिय मोरे घट मैं पिय माँय। जल तरंग ज्यों द्विविधा नांय ।

कविवर बनारसीदास के समय में राम, कृष्ण और शिव भक्ति का विशेष बोलबाला था। इनमें परस्पर साम्प्रदायिक निग्रह भी था। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने "रामचरित मानस" में शिव और राम की भक्ति को परस्पर पूरक बताते हुए राम को शिव का और शिव को राम का उपासक-उपास्य बताया है। कवि बनारसीदास में भी यह समन्वयवादी स्वर मुखरित है। एक ओर उन्होंने विराजै रामायण घट माँहि कह कर राम कथा की आध्यात्मिकता को आत्मस्थ किया है तो दूसरी ओर यह प्रतिपादित किया कि जीव ही शिव है अपने विशुद्ध परम चेतन रूप में और शिव पूजा वस्तुतः आत्मपूजा ही है। शिव के स्वरूप का यह रूपकात्मक चित्रण देखिये—

शक्ति विभूति अंग छवि छाजै। तीन गुपति तिरशूल विराजै ।।
कंठ विभाव विषम विस सोहे। महामोह विषहर नहिं पौहै ।।
संजम जटा सहज सुख भोगी। निहचै रूप दिगम्बर जोगी ।।
ब्रह्म समाधि ध्यान गृह साजै, तहाँ अनाहत डमरू बाजै ।।

तुलसीदास ने अपने आराध्य राम को सर्वोपरि मान कर भी गणेश, सीता, गंगा-जमुना चित्रकूट आदि सभी की स्तुति की है। पर सबसे मांगी राम-भक्ति ही है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मांगत तुलसीदास कर जोरे, बसहु राम सिय मानस मोरे ।।

इसी प्रकार बनारसीदास ने शिव आदि की स्तुति करते हुए भी सबका समाहार वीतराग देव की भक्ति में ही किया है।

वीतराग भक्ति के नाम पर उनके समय में बाह्य कर्म-काण्ड, ढोंग, पाखंड आदि बढ़ गया था। सच्ची साधुता दूषित हो चली थी। पूजा के नाम पर हिंसा और प्रदर्शन प्रधान बन गया था। यही कारण है कि उन्होंने तुलसीदास आदि अन्य कवियों की तरह किसी कथा को लेकर कोई प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा और अपनी ही जीवन कथा को ही प्रबन्ध का रूप दिया। यह एक प्रकार से निःशल्य होने की स्वैच्छिक अन्तःशल्य चिकित्सा थी। इसी भावना से बनारसीदास ने साधुता के नाम पर वणिकवृत्ति चलाने वाले यतियों और मुनियों की कटु आलोचना की और सच्ची साधुता का स्वरूप लोक मानस के समक्ष प्रस्तुत किया—

जो सब जीवन को रखवाल। सो सुसाधु बंटुक तिरकाल।
मृषावाद नहीं बोले रत्ती। सो जिन मारग सांचा जती।।
सदय हृदय साधै शिव पंथ। सो तपीश निर्भय निर्ग्रन्थ।
दत्त अदत्त न फरसै जोय। तारण तरण मुनीश्वर सोय।।

पूजा के नाम पर द्रव्य पूजा ही प्रमुख बन गई और उसमें निहित आत्मभाव विलुप्त हो गया। कवि बनारसीदास ने पूजा की पवित्रता की रक्षा के लक्ष्य से उसके प्रतीकार्य को स्पष्ट किया और बताया कि अष्ट प्रकार की जिन-पूजा में जल मन की उज्ज्वलता का, चन्दन स्वभाव की शीतलता का, पुष्प कामदहन का, अक्षत अक्षय गुणों का, नैवेद्य व्याधिहरण का, दीपक आत्मज्ञान का, धू कर्मदहन का और फल मोक्ष पुरुषार्थ का प्रतीक है। एक अन्य स्थल पर कवि ने समरसता को जल, कषाय-उपशम को चन्दन कहा है—

समरस जल अभिषेक करावै। उपशम रस चन्दन घसि सावै।
सहजानन्द पुण्य उप जावै। गुण गर्भित जयमास चढ़ावै।।

कविवर बनारसीदास, धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में ही नहीं काव्य शास्त्र के क्षेत्र में भी समता, समरसता और प्रशांतता के पक्षधर हैं। शृंगार रस के नाम पर व्यक्तियों को उत्तेजित कर विलासिता के रंग में निमग्न करने वाले शृंगारिक कवियों की भर्त्सना करते हुए कहा—

मांस की ग्रन्थि कुच, कंचन कलस कहै,
कहै मुख चन्द्र जो सलेषमा को धरू है।
हाड़ के दशन माहि, हीरा मोती कहै ताहि,
मांस के अधर ओठ, कहे बिंबफरु है।
हाड़ दंभ भुजा कहै, कौल नाल काम धुजा,
हाड़ ही के थंभा जंघा, कहै रंभा तरू है।
यों ही झूठी जुगति बनावै और कहावै कवि,
एते पै कहें हमें शारदा को वरू है।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् मांस ग्रन्थि स्तनों को स्वर्ण कलश कहना, श्लेषमा के घर मुख को चन्द्र कहना, हड्डी के दातों को हीरा-मोती कहना, मांस-पिण्ड ओठ को बिम्बफल कहना, हाड़ के दण्डों रूप भुजा को कमल-नाल और कामदेव की पताका, जंघा को केले का वृक्ष कहना सरासर झूठ है। फिर ऐसे कवियों को सरस्वती का उपासक क्यों कर कहा जाय? कहा जाता है कि बनारसीदास जी ने स्वयं प्रारम्भ में श्रृंगारिक रचनाएँ लिखी थीं पर बाद में जब उन्हें वास्तविक बोध हुआ तब उन रचनाओं को गोमदी नदी में फेंक दिया।

यथार्थ बोध होने पर कवि बनारसीदास ने काव्य शास्त्र में मान्य स्थायी भावों की नई प्ररूपणा भी की है। उन्होंने श्रृंगार रस का स्थायी भाव शोभा, हास्य रस का आनन्द, करुण रस का कोमलता, रौद्र रस का संहार, वीर रस का पुरुषार्थ, भयानक का चिन्ता, वीभत्स रस का ग्लानि, अद्भुत रस का आश्चर्य और शान्त रस का वैराग्य माना है:—

शोभा में सिंगार बसै, वीर पुरुषारथ में,
कोमल हिये में करुणा रस बखानिये।
आनन्द में हास्य, रुण्ड-मुण्ड में बिरज रुद्र,
विभत्स तहाँ, जहाँ गिलानि मन आनिये।
चिन्ता में भयानक, अथाहता में अद्भुत,
माया की अरुचिता में, शान्त रस मानिये।
ये ई नव रस भव रूप ये ई भाव रूप,
इनको विलछिण सुरष्टि जागे जानिये।

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रृंगार के पारस्परिक स्थायी भाव रति की अपेक्षा शोभा अधिक व्यापक है। इसमें वासना का नहीं, आत्म की शोभा का उल्लास भाव उमड़ पड़ता है। हास्य रस का स्थायी भाव आनन्द, हास की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि आनन्द में किसी की विवशता, दुर्बलता या विकृति पर हँसी नहीं फूटती। आन्तरिक आनन्दोल्लास की हँसी का कारण होता है। करुण रस का स्थायी भाव कोमलता, शोक की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत है। शोक में चिन्ता व्याप्त होती रहती है जब कि कोमलता में दया और मैत्री भाव अनुस्यूत रहता है। वीर रस का स्थायी भाव पुरुषार्थ उत्साह की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक है। उत्साह घट-बढ़ सकता है। पर पुरुषार्थ में आन्तरिक वीरत्व सतत बना रहता है। भयानक रस का स्थायी भाव चिन्ता, भय की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त है क्योंकि चिन्ता के अभाव में भय का उत्पन्न होना सम्भव नहीं। इस प्रकार बनारसीदास ने स्थायी भावों के सम्बन्ध में अपना मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो अधिक मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक प्रतीत होता है। नवरसों के पारमार्थिक स्थानों का संकेतबनारसीदास ने इस प्रकार किया है:—

गुन विचार सिंगार, वीर उधम उदार रुख।
करुणा सम रस रीति, हास हिरदै उछाइ मुख।
अष्टकाम दल मलन, रुद्र वरनै तिहि थानक।
तन विलेछ वीभच्छ, छन्द मुख दसा भयानक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अद्भुत अनन्त बाल चितवन, सांत सहज वैराग ध्रुव।
नवरस विलाश परगास, तव, जब सुबोध घट प्रगट हुव।

अर्थात् आत्मा को ज्ञान से विभूषित करने का विचार शृंगार रस है, कर्म निर्जरा का उद्यम वीर रस है, अपने ही समान सब जीवों को समझना करुण रस है, मन में आत्म-अनुभव का उत्साह हास्य रस है, अष्ट कर्मों को नष्ट करना रौद्र रस है, शरीर की अशुचिता विचारना वीभत्स रस है; जन्म-मरण आदि दुःख चिंतवन करना भयानक रस है। आत्मा की अनन्त शक्ति चिंतवन करना अद्भुत रस है, दृढ़ वैराग्य धारण करना शान्त रस है। सो जब हृदय में सम्यक्त्व प्रकट होता है तब इस प्रकार सब रस का विकास प्रकाशित होता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि बनारसीदास का जीवन-दर्शन सरलता, स्पष्टता, सरसता और साहस शीलता पर आधारित है। सचमुच वे सरस्वती के सच्चे उपासक थे। किसी संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है—

सरसौ विपरीतश्चेत, सरसत्त्वं न मुच्चति।
साक्षरा विपरीतश्चेत् राक्षसा एव निश्चिता॥

अर्थात् जो सरस्वती का उपासक होता है· वह विपरीत परिस्थितियों में भी, अपनी सरलता को नहीं छोड़ता, सरस को उल्टा-सीधा कैसे भी पढ़ो· वह सरस ही बना रहता है, पर जो केवल साक्षर होता है· जिससे ज्ञान को पचाया नहीं है, वह किंचित् विपरीत परिस्थितियाँ आते ही सिद्धान्तविहीन हो जाता है· बदल जाता है· उल्टा हो जाता है अर्थात् राक्षस बन जाता है।

बनारसीदास का जीवन विपरीत परिस्थितियों और विषमताओं से भरा-पूरा जीवन है। पर समभाव से, सहज विनोद वृत्ति से वे उनसे पार होते रहे। कभी उफ तक नहीं किया। सचमुच ज्ञान को उन्होंने अनुभव में उतार लिया था। इसीलिये वे चार सौ वर्ष बीतने पर भी आज सरस बने हुए हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा, उनकी सरसता और अधिक स्निग्ध व जाती बनती जायेगी।

सी०–२३५ ए तिलकनगर
जयपुर–३००२०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org